ग्लोबल वार्मिंग में वैश्विक उत्तर बनाम वैश्विक दक्षिण

ग्लोबल वार्मिंग के कारण आज हमारे अस्तित्व पर ख़तरा पैदा हो गया है, लेकिन इससे निपटने की जो कोशिशें चल रही हैं, वे एक ख़ास तबक़े की मनमानी के कारण ज़ोर नहीं पकड़ पा रहीं। विकसित देश इस समस्या को हल करने का अधिकाधिक बोझ विकासशील देशों पर डालना चाहते हैं। दूसरी तरफ़ विकासशील देशों के पास इन प्रभावों से निपटने की क्षमता नहीं है। जलवायु परिवर्तन पर विश्व के इस तरह बंटे होने के कारण समस्या और गंभीर रूप ले सकती है। इन्हीं मुद्दों पर ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान ने **सेंटर फ़ोर टेक्नॉलजी एंड डेवलप्मेंट** के निदेशक और **अखिल भारतीय जन–विज्ञान नेटवर्क** के वरिष्ठ साथी डी. रघुनन्दन से बात की, जिसके आधार पर यह लेख तैयार किया गया है।

पूंजी, श्रम और उत्पादन के साधनों के अलावा उत्पादन प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाला अपशिष्ट उत्पादन का चौथा कारक है। यह चौथा कारक, अपशिष्ट, उत्पादन प्रक्रिया की किसी भी लागत में शामिल नहीं किया जाता है और अर्थशास्त्र इसे बाह्यता (एक्स्टरनैलिटी) मानता है। इसलिए, इसे एक तरफ़ रख कर भुला दिया गया। लेकिन अब इसकी भारी क़ीमत पूरी मानवता को चुकानी पड़ रही है। ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु परिवर्तन वायुमंडल में एकत्रित ग्रीनहाउस गैसों के कारण होता है। आज हम ऐसी स्थिति का सामना कर रहे हैं जहां वायुमंडल में बड़ी मात्रा में ग्रीनहाउस गैसें जमा हो गई हैं, और इन संचित गैसों का 75 प्रतिशत भाग औद्योगिक युग के बाद से विकसित देशों द्वारा वहां डाला गया है।

इसके बावजूद जलवायु परिवर्तन एक वैश्विक घटना है। बेशक समस्या की जड़ वे देश हैं जिन्होंने 75 प्रतिशत समस्या वातावरण में फैलाई है, लेकिन इस समस्या का परिणाम दुनिया भर में हर किसी को भुगतना पड़ रहा है। इसी के मद्देनज़र, 'प्रदूषक भुगतान करेगा' के सिद्धांत का पालन करते हुए, यूएनएफसीसीसी (जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र फ्रेमवर्क कन्वेंशन) ने समस्या से निपटने की बड़ी ज़िम्मेदारी विकसित देशों पर डाली। संयुक्त राष्ट्र फ्रेमवर्क कन्वेंशन के 'सामान्य लेकिन विषम जिम्मेदारियों' के सिद्धांत के तहत, विकसित देशों से उत्सर्जन में भारी कटौती कर 2008 तक उत्सर्जन को 1990 के स्तर से 80 से 90 प्रतिशत नीचे ले जाने का आह्वान किया गया। क्योंकि विकासशील देशों को अभी भी अपनी आबादी की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करना बाक़ी है, इसलिए उन्हें किसी कोटा से प्रतिबंधित नहीं किया

गया, लेकिन उत्सर्जन को नियंत्रित करने के लिए अपना सर्वश्रेष्ठ प्रयास करने को कहा गया।

कुछ विकसित देशों ने उत्सर्जन में कटौती शुरू तो कर दी है, लेकिन अब तक उनकी कटौती 1990 के स्तर से लगभग 30 से 40 प्रतिशत कम तक ही पहुँची है। वहीं, अमेरिका ने उत्सर्जन कम करने की कोशिश करने की बजाय पेरिस समझौते के तहत अपना राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित योगदान (एनडीसी) प्रस्तुत करते हुए अपने लिए वर्ष 2030 तक उत्सर्जन को वर्ष 2005 की आधार रेखा की तुलना में 50 प्रतिशत तक कम करने का लक्ष्य रखा है। यानी वास्तव में वह केवल 17 प्रतिशत की कटौती करेगा। दूसरी ओर, अमेरिका एक 'निष्पक्ष' और दूरदर्शी परिप्रेक्ष्य अपनाने का आह्वान कर रहा है; कि आइए

अतीत में जो कुछ हुआ उसे भूल कर भविष्य को बचाने के लिए बराबर कदम उठाएं। इसलिए, सभी देशों के लिए 2050 तक शुद्ध शून्य उत्सर्जन का नया सामूहिक लक्ष्य सामने रखा गया है।

इस प्रकार, आज समस्या दोतरफा है: 1) विकसित देश अपने उत्सर्जन में उतनी कटौती नहीं कर रहे हैं जितनी उन्हें करनी चाहिए; और 2) सामान्य लेकिन विषम जिम्मेदारियों के सिद्धांत को किनारे कर अब 'साझा ज़िम्मेदारी' का सिद्धांत पेश किया जा रहा है। निष्पक्षता के नाम पर विकसित देश व्यवस्था के साथ इस तरह खिलवाड़ कर रहे हैं कि इस समस्या को हल करने का अधिकाधिक बोझ विकासशील देशों पर डाला जा सके। दूसरी समस्या यह है कि जहां जलवायु परिवर्तन विकसित एवं विकासशील देशों पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रहा है, वहीं विकासशील देशों के पास इन प्रभावों से निपटने की क्षमता नहीं है। उनके पास अपनी आबादी पर विनाशकारी ग्लोबल वार्मिंग से होने वाले नुक़सान को कम करने के लिए आर्थिक साधन और तकनीकी क्षमताओं का अभाव है।

आउटसोर्स उत्पादन: आर्थिक लाभ एवं पर्यावरणीय लागत

हम देख रहे हैं कि यूरोप ने उत्सर्जन कम किया है। लेकिन, यूरोप के उत्सर्जन में कमी इसलिए संभव हो सकी क्योंकि पिछले दो दशकों से उसने अपना सारा उत्पादन चीन व अन्य वैश्विक दक्षिण देशों को आउटसोर्स कर दिया है। हालांकि उसने उपभोग करना जारी रखा और उसके उपभोग से बड़े पैमाने पर ग्रीन हाउस उत्सर्जन हो रहा है। लेकिन यह यूरोप के खातों में दिखाई नहीं देता है, जबकि विकासशील देशों और चीन को, जो कि यूरोपीय उपभोक्ताओं के लिए उत्पादन करते हैं, ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाता है। अमेरिका अपना उत्पादन आउटसोर्स करने के बाद भी उत्सर्जन कम नहीं कर पाया है, जिसका वास्तव में मतलब है कि वह आदतन इतना उपभोग करता है, जिससे उपलब्ध आँकड़ों से कहीं ज़्यादा ग्रीन हाउस उत्सर्जन हो रहा है। वहीं, यूरोप चीन पर आरोप लगाता है कि वह अपने उत्सर्जन में पर्याप्त कटौती नहीं कर रहा है।

वास्तव में, आउटसोर्स उत्पादन करने वाले सभी देशों को इस दुविधा का सामना करना पड़ता है: एक तरफ़ आर्थिक रूप से लाभ होता है, दूसरी तरफ़ उत्सर्जन के मामले में नुक़सान। इन देशों को इन्हीं दो विकल्पों में से चुनना पड़ता है। लेकिन बहुत से छोटे देशों के पास कोई विकल्प नहीं है, उन्हें हर हाल में नुक़सान उठाना पड़ता है। उदाहरण के लिए अफ्रीकी देश, कैरेबियन क्षेत्र के छोटे द्वीप देश, या प्रशांत द्वीप समूह। उत्सर्जन में वृद्धि उनके अस्तित्व के लिए ख़तरा बन गई है। ये सबसे असहाय देश हैं। वैनूआटू या

फिजी जैसे देश चीन और कुछ हद तक भारत को एक बढ़ती अर्थव्यवस्था के रूप में देखते हैं, जिनका उत्सर्जन भी बढ़ रहा है। इसलिए, ये देश अमेरिका और यूरोप से उत्सर्जन में कटौती का अनुरोध करने के साथ भारत और चीन से भी उत्सर्जन को यथासंभव कम करने का आग्रह कर रहे हैं, क्योंकि उनके अनुसार, कम से कम भारत और चीन के पास इतनी मज़बूत अर्थव्यवस्था और तकनीकी आधार है कि वे कुछ कर सकते हैं, जबकि उनके खुद के पास कुछ भी नहीं है। कुल मिलाकर, विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों के भीतर एक विभाजन है।

जीवाश्म ईंधन से हरित विकल्पों की ओर

विकसित एवं वैश्विक उत्तर के देशों के पास हरित ऊर्जा उत्पादन का विस्तार करने के लिए आर्थिक शक्ति और औद्योगिक क्षमता है। फिर भी, विकसित देशों का एक बड़ा वर्ग अभी भी पारंपरिक ईंधन पर निर्भर है। उदाहरण के लिए यूरोपीय संघ का बड़ा हिस्सा अभी भी कोयले का उपयोग करता है। ब्रिटेन ने यूरोप में कोयला खदानें फिर से खोल दी हैं। अधिकांश यूरोप प्राकृतिक गैस पर निर्भर है, जो कोयले की तुलना में 'हरित' है लेकिन फिर भी एक जीवाश्म ईंधन है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ऊर्जा उत्पादन के लिए काफ़ी हद तक तेल और कोयले पर निर्भर है। दूसरी तरफ़, विकसित देश विकासशील देशों की 'मदद' कर उन्हें हरित ऊर्जा अपनाने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। जबकि ये देश वास्तव में जीवाश्म ईंधन से हरित ऊर्जा में परिवर्तन में, वित्त या प्रौद्योगिकी हस्तांतरण के मामले में मदद करने की कोई बात नहीं करते हैं। नवीकरणीय ऊर्जा का भंडारण एक बहुत बड़ी समस्या है, जिसे तकनीकी रूप से अभी तक सुलझाया नहीं जा सका है। यही कारण है कि बड़ी अर्थव्यवस्थाएं अपने उद्योग-कारख़ाने चलाने के लिए पूरी तरह से सौर या पवन ऊर्जा पर निर्भर नहीं रहना चाहतीं। जब तक हम पंपयुक्त भंडारण उत्पन्न करने में सक्षम नहीं हो जाते, तब तक यह एक बड़ी बाधा बनी रहेगी। लेकिन फिर इसके लिए जलाशयों के निर्माण की आवश्यकता होगी, और इस प्रकार बांधों आदि से संबंधित सभी प्रकार की मानवीय व पर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न होंगी। प्रौद्योगिकी को विकसित होने और परिपक्व होने, और पैमाने की अर्थव्यवस्था (economies of scale) हासिल करने में समय लगेगा।

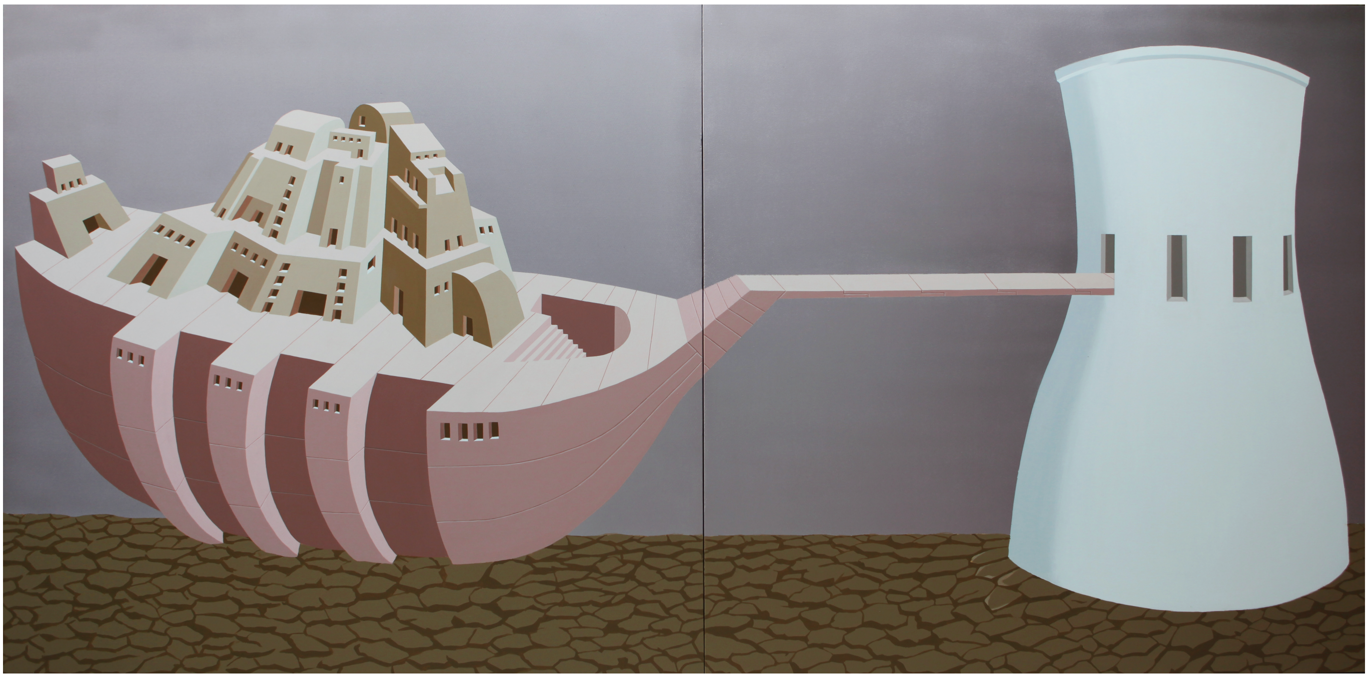

विकासशील देशों में ऊर्जा मिश्रण की संभावनाएँ

परमाणु ऊर्जा में उच्च लागत, तकनीकी और ईंधन–संबंधी बाधाएँ हैं। जन–आंदोलनों के तरफ़ से प्रतिरोध है और संभावित क्षति जोखिम आदि हैं। इसलिए कोई भी सरकार परमाणु ऊर्जा के बड़े पैमाने पर विस्तार का जोखिम नहीं उठाना चाहती। जलविद्युत ऊर्जा उत्पादन को भी भारी जन प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है क्योंकि यह नदी पारिस्थितिकी को बाधित करता है, लोगों को विस्थापित करता है, और नदी के तल में वृद्धि और बाढ़ आदि का कारण बनता है। पवन और सौर ऊर्जा के लिए खाली भूमि के विशाल टुकड़ों की आवश्यकता होती है, जो एशिया के जनसंख्या–सघन व अत्यधिक उपजाऊ देशों में एक समस्या है। इसमें लागत और अस्थिर ग्रिड से संबंधित समस्याएं भी हैं।

विकेन्द्रीकृत सौर ऊर्जा उत्पादन के क्षेत्र का कम दोहन हो रहा है, लेकिन इसमें भी ऊर्जा उत्पादन के पैमाने से संबंधित समस्याएं हैं। यह एक ऐसा क्षेत्र है, जहां एशिया के देशों को स्वदेशी प्रौद्योगिकी के निर्माण और प्रति वर्ग मीटर अधिक सौर ऊर्जा प्राप्त करने के लिए अनुसंधान एवं विकास पर निवेश करना चाहिए। इस प्रकार, ऊर्जा मिश्रण को विकासशील देशों के लिए एक वास्तविक संभावना बनाने में कई बाधाएँ हैं। आपूर्ति, ग्रिड, स्थिरता, और भंडारण संबंधित बाधाओं को हल होने में अगले दो दशक लगेंगे।

आपूर्ति बनाम उपभोग

ऊर्जा आवश्यकताओं पर बहस/चर्चा आमतौर पर आपूर्ति पक्ष के परिप्रेक्ष्य से होती है। उदाहरण के लिए, सवाल पूछा जाता है कि 'हम हरित तरीके से ऊर्जा का उत्पादन कैसे करें?' अब, उत्पादन प्रक्रिया में परिवर्तन को पैमाने की अर्थव्यवस्था (economies of scale) तक पहुंचने में एक दशक या उससे अधिक समय लगने वाला है। इस बीच, उपभोग पक्ष पर बहुत से बदलाव किए जा सकते हैं। जबकि इस दिशा में विकसित देशों या विकासशील देशों ने अभी रास्ते नहीं खोजे हैं। उदाहरण के लिए हम प्रति व्यक्ति उत्सर्जन, या प्रति व्यक्ति ऊर्जा उत्पादन के बारे में बात करते हैं, लेकिन प्रति व्यक्ति ऊर्जा खपत पर बहुत कम बहस हुई है। यह लंबे समय से मानक माना जाता है कि ठीक से विकसित होने के लिए, देशों को प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष लगभग 4,500 किलोवाट ऊर्जा खपत का लक्ष्य रखना चाहिए। लेकिन, सवाल यह है कि क्या हमें वाकई 4500 की जरूरत है? और इसमें दो पहलू हैं: ऊर्जा खपत का वास्तविक स्तर; और हमारी अर्थव्यवस्थाओं में ऊर्जा खपत का वितरण।

अधिकतर एशियाई देशों में विकास मॉडल निजी वाहनों पर केंद्रित है। हम जानते हैं कि परिवहन उत्सर्जन के सबसे तेज़ी से बढ़ते स्रोतों में से एक है, लेकिन हमारी सरकारें ईंधन दक्षता मानकों को लागू करने से झिझकती हैं, क्योंकि ऑटोमोबाइल उद्योग हमारे विकास मॉडल का केंद्र है, और ईंधन दक्षता लागू करने से वाहनों की मांग कम हो जाएगी तथा उद्योग प्रभावित होगा। प्रदूषण कम करने के समाधान के तौर पर इलेक्ट्रिक वाहनों को बढ़ावा दिया जा रहा है लेकिन, यहां वे जो भूल रहे हैं कि ये ईवी वाहन बिजली से चार्ज होते हैं, और दुनिया के अधिकांश हिस्सों में, बिजली का स्रोत अभी भी जीवाश्म ईंधन है। और जैसा कि हमने ऊपर देखा, बिजली उत्पादन को पूरी तरह सौर ऊर्जा द्वारा प्रतिस्थापित अभी नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, पूरे एशिया में बड़े शहरों और छोटे शहरों के बीच ऊर्जा खपत में भारी भिन्नताएं हैं, और यह अंतर बढ़ता जा रहा है।

जनता की पहल कई तरह के दबाव डाल सकती है। उदाहरण के लिए, लोग एकजुट होकर इमारतों को अधिक इन्सुलेशनयुक्त (insulated) बनाने का दबाव डाल सकते हैं, ताकि इमारतें गर्मी कम सोखें और इस तरह उन्हें ठंडा करने में कम ऊर्जा लगे। दूसरी ओर, सड़कों को वाहनों की आवाजाही के लिए नहीं बल्कि लोगों की आवाजाही के लिए पुन: डिज़ाइन किया जाना चाहिए। लेकिन इसके लिए विकास की अवधारणा के स्तर पर जनता को हस्तक्षेप करने के लिए आगे आना होगा। हमें अपने शहरों, शहरों में अपने जीवन, और जीवनशैली के बारे में नए सिरे से सोचना होगा। जवाब जन–कार्रवाइयों से ही मिलेगा। जलवायु परिवर्तन, और उसे हल करने के लिए विकास की जिस वैकल्पिक अवधारणा की

ज़रूरत है, उसे अभी भी कई विकासशील देशों में जन-आंदोलनों द्वारा आत्मसात किया जाना बाकी है।

क्या कर सकते हैं?

परिवहन क्षेत्र: सार्वजनिक परिवहन के मुकाबले निजी परिवहन को प्राथमिकता देने वाला विकास मॉडल पारिस्थितिक रूप से टिकाऊ नहीं है। यह आर्थिक रूप से भी टिकाऊ नहीं है: उदाहरण के लिए भारत में विदेशी मुद्रा के बहिर्प्रवाह का सबसे बड़ा हिस्सा पेट्रोलियम पर खर्च किया जाता है।

ऑटोमोबाइल उद्योग को बस परिवहन या सड़क आधारित-रेल ट्राम आदि का उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और सरकारों पर रेलवे में निवेश बढ़ाने के लिए दबाव डाला जाना चाहिए। इससे कई समस्याएं हल हो जाएंगी- प्रति व्यक्ति उत्सर्जन कम होगा; वायु प्रदूषण कम होगा; पैसे की बचत होगी; गरीब जनता की ऊर्जा तक पहुंच बढ़ेगी।

इसके अतिरिक्त, इलेक्ट्रिक वाहनों में भारी निवेश करने के बजाय हाइड्रोजन वाहनों में निवेश बढ़ाया जाना चाहिए। हाइड्रोजन वाहनों को किसी शक्ति स्रोत की, ग्रिड बिजली या चार्जिंग स्टेशन की आवश्यकता नहीं होगी। उत्सर्जन शून्य होगा। इनका ईंधन (हाइड्रोजन) पानी को आयनित करके उत्पन्न होता है और इस ईंधन के जलने से जलवाष्प का उत्सर्जन होगा। यह तकनीक जानी-पहचानी है, ऐसी कारें पहले से ही मौजूद हैं। टोयोटा बना रही है ऐसी कार। हम पनडुब्बियों, विमानों और लड़ाकू विमानों में इस तकनीक का उपयोग कर रहे हैं। तो टेक्नोलॉजी मालूम है। इसका विस्तार करने की ज़रूरत है।

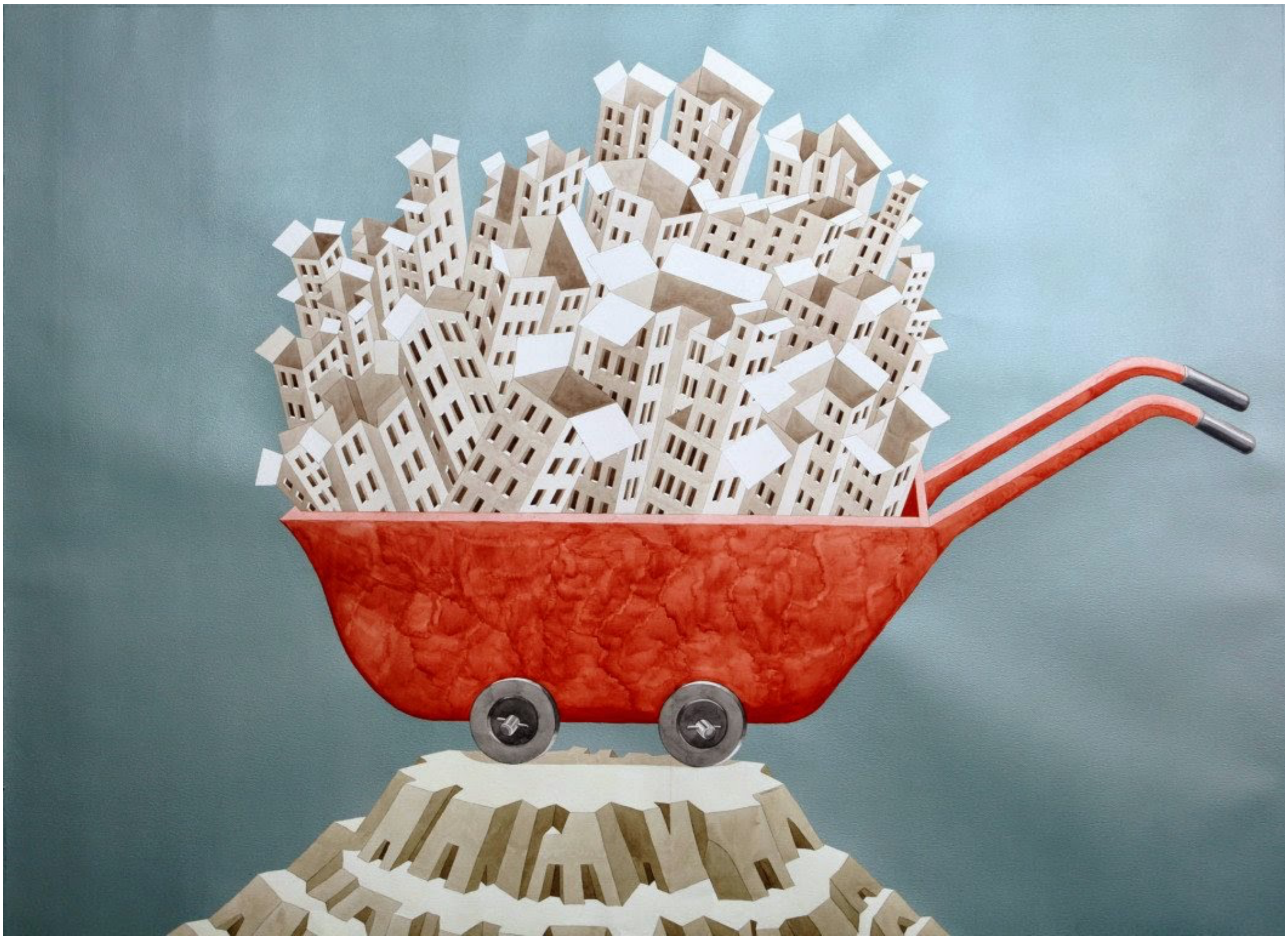

उद्योग: उद्योगों के लिए उत्सर्जन घटाने की नीति की तुलना में ऊर्जा की खपत घटाने की नीति कहीं अधिक कारगर होगी। नीतियों को समझदारी से डिजाइन किया जाना चाहिए। लेकिन, अधिकतर एशियाई देशों में निजी क्षेत्र के अधिकांश उद्योग बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने आत्मसमर्पण कर चुके हैं, उन्हें दूसरे/तीसरे दर्जे के उत्पाद बनाने या बहुराष्ट्रीय कंपनियों की सहायक कंपनियां बनने में कोई आपत्ति नहीं है। निजी क्षेत्र प्रौद्योगिकी और अनुसंधान के प्रति पूरी तरह से विमुख है। ऐसे में जो भी तकनीक आती है, वह बहुराष्ट्रीय कंपनियों से आती है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे अपनी प्रौद्योगिकियों को कहां और किस तरह से बाँटते हैं। वे यूरोप, जापान और अन्य परिपक्व बाजारों में उन्नत प्रौद्योगिकी देते हैं, जबकि निचले स्तर की प्रौद्योगिकी हमारे देशों में भेजते हैं। इसके साथ ही लघु उद्योगों के पास बदलाव के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं है, क्योंकि उन्हें सरकार से पर्याप्त सब्सिडी नहीं मिलती है।

गुणवत्ता मानक बेहतर करने के लिए एक व्यापक कार्यक्रम होना चाहिए, और उससे उन्नत प्रौद्योगिकियां स्वतः ही आने लगेंगी। लेकिन इसके लिए उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त नियम लागू करने और उद्योगों को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करने की आवश्यकता होगी। इस मुद्दे से

निपटने के लिए सरकारों को वैचारिक से रूप से कुछ अलग तरह से सोचना होगा।

कृषि: हम कृषि में उत्पादन–केंद्रित रहे हैं। इससे हमारे देशों को खाद्य आत्मनिर्भर बनने में मदद मिली। लेकिन, इसकी अपनी पर्यावरणीय और पारिस्थितिकीय लागत हैं। दूसरी तरफ़, किसानों की लागत में भारी वृद्धि हुई है जबकि उत्पादकता कम हो रही है। इसके अतिरिक्त, जलवायु परिवर्तन के कारण बाढ़ और सूखा किसानों की उपज को प्रभावित कर रहे हैं। कई हिस्से पहले से ही पानी की समस्या से जूझ रहे हैं। ऐसे में किसान कई तरह से दबाव में हैं। लेकिन ऐसे क्षेत्र भी हैं जिनमें लाभकारी तरीके से उत्सर्जन को कम किया जा सकता है।

FO
and
Dignity

उदाहरण के लिए, उर्वरकों की कुछ श्रेणियों में इनपुट लागत को कम करके, चावल गहनता की प्रणाली को अपनाकर, फसल विविधीकरण को अपनाकर, रोपाई किए गए धान की एसआरआई तकनीक को अपनाकर। इस तरह हम किसानों की लागत बढ़ाए बिना, मिथेन उत्सर्जन और नाइट्रस ऑक्साइड उत्सर्जन को काफ़ी हद तक कम कर सकते हैं। इस तरह का बदलाव लागू करने में लागत में थोड़ा फ़र्क़ पड़ेगा, जिस पर सरकार द्वारा सब्सिडी दी जानी चाहिए।

सरकारों को किसानों के लिए एक्स्टेन्शन सेवाओं में फिर से निवेश करने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, भारत में किसानों के लिए एक्स्टेन्शन सेवा का क्षेत्र बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सौंप दिया गया था।

अपशिष्ट प्रबंधन: उत्सर्जन का दूसरा बड़ा स्रोत जिस पर हमने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है अपशिष्ट है, जिसमें ठोस और सीवेज अपशिष्ट दोनों आते हैं। सतही अपशिष्ट उत्सर्जन का सबसे तेज़ी से बढ़ने वाला स्रोत है, और जितना अधिक हम शहरीकरण करते हैं उतना अधिक हमारा अपशिष्ट उत्पादन बढ़ता है तथा मिथेन उत्पादन भी उतना ही अधिक होता है। कार्बन डाइऑक्साइड वायुमंडल में एक हज़ार साल तक रहता है लेकिन मिथेन कार्बन डाइऑक्साइड की तुलना में 20 गुना अधिक शक्तिशाली ग्रीनहाउस गैस है लेकिन वायुमंडल में केवल 25 साल या 30 साल तक रहता है। इसलिए यदि हम मिथेन को कम करने के लिए कार्रवाई करते हैं तो हम ग्लोबल वार्मिंग पर लगभग तत्काल प्रभाव डाल सकते हैं और इसे 0.2 डिग्री सेल्सियस तक कम कर सकते हैं।

मिथेन निष्कर्षण एक ऐसी समस्या है जिसे हमने अब तक छुआ नहीं है, जबकि इसका समाधान अधिक निवेश के बिना किया जा सकता है। मिथेन का उपयोग कर बिजली उत्पन्न करना एक जानी-पहचानी तकनीक है, इसमें केवल निवेश की आवश्यकता है।

पुनर्वनीकरण या शहरी वनीकरण: पुनर्वनीकरण और शहरी वनीकरण से कार्बन पर रोक लगाने की काफ़ी ज़्यादा गुंजाइश है, लेकिन सवाल यह है कि क्या ऐसा हो सकेगा? इंडोनेशिया और मलेशिया जैसे देशों को जंगल काटकर ताड़ के बाग़ान लगाने के व्यावसायिक दबाव का सामना करना पड़ रहा है। भारत में, सरकार ने वन संरक्षण संशोधन विधेयक पारित किया है तथा कार्बन में कमी के नाम पर और 'राष्ट्रीय सुरक्षा' के नाम पर उत्तर से उत्तर पूर्व में 13 मिलियन वर्ग किलोमीटर वन क्षेत्र में कुछ भी करने का अधिकार ले लिया है। इसके अतिरिक्त, वनों की परिभाषा में संशोधन करके, भारत सरकार अपने वनों के एक तिहाई हिस्से को गैर-वन घोषित करने और उन्हें व्यावसायिक वृक्षारोपण के लिए निजी कंपनियों को सौंपने के लिए तैयार है। कुल मिलाकर, हमारे देश अभी वनों की कटाई देख रहे हैं, चाहे वह सरकार प्रायोजित हो या किसी और के द्वारा। केवल ज़मीनी स्तर से शुरू हुई जन-कार्रवाई ही इसको रोक सकती है।

सार्वजनिक सेवाओं में समानता की बहाली: जलवायु परिवर्तन, बढ़ते प्रदूषण और तेज़ गर्मी आदि से ग़रीब सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। लेकिन, निजीकरण ग़रीबों के हितों के ख़िलाफ़ काम करता है, क्योंकि यह व्यवस्था उन्हीं लोगों के लिए है जो पैसे ख़र्च कर सकते हैं और ग़रीब ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए सार्वजनिक सेवाओं तक जनता की पहुंच पहली मांग होनी चाहिए। जिसका मतलब है कि सार्वजनिक परिवहन, रियायती ऊर्जा, पर्यावरण प्रदूषण से सुरक्षा, हरित स्थानों तक पहुंच, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच हमारी शीर्ष मांगें बनी रहनी चाहिए। जैसे हम वैश्विक उत्तर से मांग कर रहे हैं कि आप अपना उत्सर्जन कम करें ताकि जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि के लिए हमारा उत्सर्जन बढ़ सके, हमें अपने देशों के भीतर भी ऐसा ही करना चाहिए। जो अमीर हैं, जो शहरी क्षेत्रों में बेहतर स्थिति में हैं, उन पर ऊर्जा खपत कम करने का दबाव बनाना चाहिए ताकि ग़रीबों को ऊर्जा तक अधिक पहुंच मिल सके, चाहे वह बिजली हो, परिवहन हो, स्वास्थ्य, अस्पतालों, टीकाकरण कार्यक्रमों और सार्वजनिक सेवाओं से संबंधित ऊर्जा हो।

इस प्रकार, हमारे द्वारा प्रस्तावित सभी विकल्प बहुआयामी होने चाहिए। उदाहरण के लिए, सार्वजनिक परिवहन उत्सर्जन में कटौती करेगा और साथ ही लोगों की परिवहन तक पहुंच भी बढ़ाएगा। इसलिए हम ऐसे समाधान चाहते हैं जो न केवल कम उत्सर्जन का लाभ दें बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में ग़रीबों की हिस्सेदारी बढ़ाएं यानी इनकी आर्थिक क्षेत्र में भागीदारी हो और सभी अन्य क्षेत्रों में इनकी पहुंच बढ़े। सभी समाधान बहुआयामी होने चाहिए और राष्ट्रों के बीच व प्रत्येक राष्ट्र के भीतर समानता के पहलू को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(लेख में शामिल चित्र अनुपम रॉय और जिजी स्केरिया द्वारा बनाए गए हैं।)